मंगलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़ , उ. प्र.
शोधार्थी-जुगेन्द्र सिंह -20221360
शोध निर्देशिका- डॉ. सोनिया यादव

यथार्थवादी दलित विमर्श

सारांश:

वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर विवेचनोपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय संस्कृति तथा सामाजिक व्यवस्था विश्व की सबसे पुरातन मानव सभ्यता की जीवन पद्धति है, जो वैदिक काल से लेकर आज तक समतामूलक सामाजिक सिद्धांतों को स्थापित करती है। वैदिककाल से चली आ रही सामाजिक वर्ण व्यवस्था का उल्लेख हमारे ग्रंथ वेदों में चातुर्वर्ण्य के रूप में प्रमाणित है, जोकि समृद्धशाली सामाजिक वर्ण व्यवस्था का द्योतक है; जिसे ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य तथा शूदों में कर्मानुसार विभक्त किया गया है। वस्तुत: पूर्व कर्मानुसार शरीर, वर्तमान शरीर सापेक्ष वर्ण, वर्ण सापेक्ष आश्रम, वर्णाश्रम सापेक्ष कर्म व्यवस्था है, यही सनातन का सार है। कालान्तर में वाह्य आक्रांताओं ने भारत पर आक्रमण कर वैदिक संस्कृति व परम्पराओं को तहस-नहस कर दिया और बड़ी चतुराई से सनातन धर्म को दोषपूर्ण दर्शा कर सम्पूर्ण शूद्रवर्ग को हिन्दू संस्कृति में निकृष्ट बताकर समाज में अश्पृश्यता की भावना के साथ ही उनमें वैमनस्यता का विष घोल दिया। एक ओर शासकों ने अपने-अपने सम्प्रदाय का प्रचार कर शूद्रों को प्रलोभन देकर धर्म परिवर्तन के लिए आसक्त किया। वहीं दूसरी तरफ कुछ प्रबुद्ध व चतुर किस्म के धर्मानुलम्बियों ने सनातन धर्म को जाति की आड़ में दलितों को गरीब, पिछड़े, दर्बे कुचले, प्रताड़ित, उत्पीड़ित, शोषित, अश्पृश्य जैसे शब्दों से परिभाषित कर भारत की सामाजिक सदभावना को छिन्न-भिन्न करने का प्रयास किया और स्वयं को दलितों के मसीहा के रूप में साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत करने में सफल रहे, जोकि राजनीतिक आकांक्षाओं से प्रेरित, प्रतीत होता है। उक्त मिथिक को तोड़ने हेतु दलितों के प्रथम राजा छत्रपति शाहू जी महाराज ने गरीबों को शीघ्र न्याय, मुफ्त शिक्षा, किसानों को स्थायी मदद जैसे उपायों से समाज में सदभाव और जन सहभागिता की भावना पैदा की।

भारत के संविधान में समतामूलक '**अनुसूचित जनजाति**' पवित्र शब्द का प्रयोग किया गया और उन्हें सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक आरक्षण का लाभ देकर व्याप्त सामाजिक असमान स्थिति को मिटाने के भरसक प्रयास किये गए, यह प्रयास आज भी जारी हैं। वस्तुत: दलित चेतना का आन्दोलन अस्सी के दशक में चरम पर था जिससे समाज में बराबरी के अधिकार, प्रतिनिधित्व और सम्मान हासिल करने तथा दलितों में व्याप्त अंधविश्वास को दूर करने के लिए दलित साहित्यकारों ने लेखन परम्परा के माध्यम से अविस्मरणीय योगदान दिया। अब भारत अपनी आजादी के 75 वर्ष पूर्ण होने पर लोकतांत्रिक परम्परा के अनुरूप अमृत महोत्सव मना रहा है। वर्तमान शासन व्यवस्था में राजनीतिक प्रयासों से आरक्षण नीति को बरकरार रखते हुए गरीबी उन्मूलन के लिए लक्ष्य निर्धारित किये हैं। सर्व जनहितार्थ योजनाओं के रोड़ मैप पर हम सबका साथ, सबका विकास, सबका विश्वास और सबका प्रयास के सिद्धांत के साथ अविराम भारत तेजी से विकास के पथ

पर दौड़ रहा है। दलित साहित्यकार साहित्य के माध्यम से दलितों को समाज की अग्रिम पंक्ति में सम्मान के साथ स्थान दिलाने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

प्रस्तावना

कामदेव, दानव दोनों हरदम भूखे रहते
बुद्धिहीन, बलहीन हरदम दुखड़े सहते।
कर्महीन हरदम, फल से वंचित रहते
कुछ जनगण हसते और कुछ रोते रहते।।

सत्कर्मों से तुम भारत श्रेष्ठ बनाओ
श्रेष्ठ बनो तुम, छप्पन भोग लगाओ।
पाषाण बनो तुम, हर दिन पूजे जाओ
जागो! सृष्टा प्रदत्त मानव धर्म निभाओ।। (स्व रचित)

वस्तुत: 'दलित' शब्द जाति सूचक नहीं है, बल्कि समाज में व्याप्त वैमनस्यता की अभिव्यंजना है, जिसे घृणित दृष्टि से देखा जाता है। बुद्धिबल और भुजबल के आधार पर सामर्थ्यहीन वर्ग: 'अन्नदाता कृषक, भूमिहीन श्रमिक, दिहाड़ी मजदूर, स्वच्छता-कर्मी और सेवकों का आर्थिक शोषण किया गया, जो दबाये गये वही दलित प्रतीक बने। तदुपरांत मुगल शासको ने दलितों को विशेष जातिसूचक; चमार, भंगी, चूहड़ा, डोम, नीच, सर्वहारा जैसे शब्दों से सम्बोधित किया, समाज से बहिष्कृत कर अन्यत्र जीवन यापन करने के लिए विवश कर अछूत बना दिया और फिर उन्हें सामाजिक व्यवस्था में अस्पृश्य माना गया। उनसे बेगार कराई गई और बंधुआ मजदूर बनाकर उनका शोषण किया गया, उन्हें गुलाम बनाया गया। उन्हें शिक्षा से वंचित किया गया और हिन्दू पूजा पद्धति से भी दूर कर दिया गया। साहित्य लेखन में दलित लेखकों द्वारा प्रयुक्त शब्द जो स्वयं मलिनता का भाव प्रकट करते हैं, प्रबुद्ध लोगों ने उसी सापेक्ष में उनका प्रयोग किया और कुछ राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए स्वयं को विशिष्ट बनाने का भी प्रयास किया, जिसके परिणामस्वरूप बहिष्कृत वर्ग के लोग जन्मजात परम्परा में परिवर्तित होकर अधम जाति का अभिशाप वर्षों तक ढोते रहे। जिन लोगों का आर्थिक, शैक्षणिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक शोषण हुआ हो, वे सभी दलित की श्रेणी में आते हैं। जब 'दलित' शब्द साहित्यक रूप से प्रयोग में आता है, तो मानवीय सरोकार और संवेदनाओं की यथार्थवादी अभिव्यक्ति को प्रकट करता है।

हिन्दी और मुगलकालीन फारसी भाषा को हटा कर सम्पूर्ण भारत में लार्ड मैकाले ने 1835 ई. में अंग्रेजी को आधिकारिक भाषा में बदल दिया था। कहा जाता है कि अगर किसी देश पर जबरन शासन करना हो, वहा की भौगोलिक स्थिति, सांस्कृतिक सभ्यता व धर्म परिवर्तन के लिए सर्वप्रथम वहा की भाषा को बदल देना चाहिए, जिससे शासन करने तथा वस्तुस्थिति बदलने में कोई अड़चन न आये। उसी नीति के आधार पर बांटो और राज करो का कार्य अंग्रेजों ने भारत में किया। विदेशी प्रबुद्ध व चतुर किस्म के धर्मानुलम्बियों ने सनातन धर्म तथा जाति की आड़ में गरीब, पिछड़े, दबे-कुचले, दलित, प्रताड़ित, उत्पीड़ित, शोषित, अश्पृश्य जैसे शब्दों से परिभाषित कर भारत की सामाजिक सदभावना पर सीधा कुठारघात किया गया और स्वयं उनके मसीहा के तौर पर अलख जगाने का श्रेय साहित्य के माध्यम से स्पर्धा के रूप में उभरने लगा। इनमें राजनीतिक आकांक्षाऐं निहित थी। जब भारत स्वतंत्रता की अंगडाई ले रहा था, तब छत्रपति शाहू जी महाराज ने गरीब प्रताड़ितों को

शीघ्र न्याय, मुफ्त शिक्षा, किसानों को स्थायी मदद जैसे उपायों से समाज में जन सहभागिता व सद्भाव की भावना पैदा की, सम्मान से जीने का अवसर प्रदान किया। महात्मा गाधी के निर्देशन में डॉक्टर भीमराव अम्बेड़कर की अध्यक्षता में संविधान निर्माण समिति ने भारत के संविधान में दोषपूरक शब्द '**दलित**' का प्रयोग न करके, उसके स्थान पर समतामूलक '**अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति**' शब्दों का प्रयोग किया, जिससे किसी भी धर्म व सम्प्रदाय की व्यक्तिगत भावना आहत न हो और उन्हें सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक लाभ देकर उनके मध्य व्याप्त सामाजिक असमानता को मिटाने का प्रयास किया गया, वही प्रयास आज भी जारी हैं। आधुनिक दलित साहित्य की धार भी प्रखर होती गई और दलितों के स्वर उन्हें समाज में समान अधिकार दिलाने के लिए बैताब होने लगे। इसी कड़ी में दलित साहित्य ने भी हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान बना लिया।

अध्ययन का उद्देश्य:

उद्देश्यपूर्ण सकारात्मक कार्य ही सामाजिक भलाई के लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होता है चाहे वह किसी भी परिस्थिति में किया गया हो। ठीक उसी प्रकार दलित विमर्श का उददेश्य दलितों की पीड़ा को उजागर करते हुए उन्हें शिक्षा के प्रति जागरूक करना, साथ ही आवश्यक योग्यता हासिल करना और शिक्षा के उपरान्त स्पर्धा में समान अवसर प्राप्त करने के लिए प्रेरित करना, जिससे समाज में सम्मान व प्रतिष्ठित पदों तक स्वयं पहुचा जा सके। आजादी के बाद भी निम्नवर्ग दलित अभिव्यंजना से मुक्ति का रास्ता तलाश रहा है और सम्मान के लिए संघर्षरत है, जो वंचितों को पिछले 75 वर्षों में नहीं मिला, जिसके वे हकदार थे। यह सब राजनीतिक इच्छा का परिणाम ही प्रतीत होता है। दलित लेखक और दलित साहित्य तब तक प्रयासरत रहेंगे, जब तक समाज से जातिगत वैमनस्यता की भावना का उन्मूलन, समाज में बराबरी का सम्मान, वंचितों व गरीबों को समान शिक्षा के समान अवसर, उच्च वर्ग की जातियों के बराबर नौकरी व जनभागीदारी सुनिश्चत नहीं हो जाती है, तभी सही मायने में यथार्थवादी दलित विमर्श को समझा जा सकता है। यही इसका मूल उद्देश्य भी है।

दलितों का शूद्रों में निहित मूलस्वरूप:

शूद्र शब्द मूलत: विदेशी है यह एक पराजित अनार्य जाति का मूल नाम था। वायुपुराण के अनुसार शोक में द्रवित होने वाले परिचर्यारत व्यक्ति शूद्र कहलाए। अगस्त्य मुनि के अवतार 'शूद्र वैयाकरण' के नाम से प्रसिद्ध हैं। भविष्यत पुराण में श्रुति की द्रुति प्राप्त करने वाले शूद्र थे। रामायण के रचियता वाल्मीकि शूद्र थे। महाभारत के रचियता वेदव्यास भी शूद्र थे। **ऐतरेय ब्राह्मण** का रचियता महिदास इतरा शूद्र था। इससे प्रमाणित होता है कि पूर्व वैदिक काल में सभी को समान गुरू शिक्षा के अधिकार प्राप्त थे, लेकिन उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मणों ने शूद्रों से वेद अध्ययन का अधिकार छीन लिया। शूद्रों को केवल दास और परिचर्या तक ही सीमित कर दिया। आदिकाल के 84 सिद्धों में 37 सिद्ध शूद्र जाति के थे। शूद्र जनजाति का उल्लेख डायोसोरस, टॉल्मी और ह्वेनसांग ने अपने ग्रंथों में भी किया है। मध्यकाल में कबीर, रैदास, पीपा प्रसिद्ध शूद्र संत थे। असम के शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित मत, पंजाब का सिख सम्प्रदाय और महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय ने शूद्र महत्व को धार्मिकता से जोड़कर प्रस्तुत किया है। आधुनिक काल में डॉ. भीमराव अम्बेड़कर, जिमर और रामशरण शर्मा ने शूद्रों को मूलत: भारतवर्ष में आने वाले प्रथम आर्यस्कंद क्षत्री व बहुभाषी आभीर जाति के लोगों के रूप में माना है, उन्हें पदपरिचर्या और द्विजों के साथ आसन, शयनवाक तथा पथ में समता की इच्छा रखने वाला शूद्र भी माना है। लेकिन आधुनिक काल में 'शूद्र' शब्द के स्थान पर 'दलित' शब्द का प्रयोग

आम हो गया और दलितों की आर्थिक दुर्दशा, शोषण व जातिगत उत्पीड़न की वास्तविकता को उजागर कर दलित लेखकों ने दलित साहित्य स्थापित किया। आदिकाल से आज तक शूद्र अथवा दलितों की दुर्दशा का आंकलन करें तो पता चलता है कि अनेक बदलावों के बावजूद इनका सामाजिक संघर्ष मूलरूप से आज भी यथावत जारी है।

दलित शब्द का उदभवः

'दलित' शब्द 19वीं सदी की सुधारवादी आंदोलन काल की प्रबुद्ध उपज है अर्थात इस शब्द का प्रयोग सवा सौ वर्षो पूर्व से होता चला आ रहा है तभी से इस शब्द के अर्थ की अभिव्यंजना को लेकर विद्वानों में मतभेद बरकरार है। इस प्रकार से दलित शब्द का वर्तमान रूप आधुनिक है। अगर सही शब्दों में कहें तो इस शब्द से जुड़ी भावना प्राचीनकाल में ही दस्तक दे रही थी। व्युतपत्ति के आधार पर यह शब्द संस्कृत के धातु 'दल' से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है तोड़, दलना, कुचलना, मसलना। नालन्दा विशाल शब्द सागर में दलित का अर्थ है- "मसला, रोंदा या कुचला हुआ, नष्ट किया हुआ।"[1] हिन्दी शब्दसागर में अर्थ विस्तृत शब्दों में दिया है- "मीड़ा हुआ, मसल हुआ, मदित, रौंदा हुआ, कुचला हुआ, खंडित, टुकड़े-टुकड़े किया हुआ, विनिष्ट किया हुआ, जो दबाकर रखा गया हो, दबाया हुआ।"[2] अंग्रेजी में इसे डिप्रेस्ड, डाउन ट्रोडन जैसे शब्दों से पुकारा गया।

वस्तुत: यह भारतीय समाज का वंचित व शोषित वर्ग है, जिन्हें अछूत और अस्पृश्य भी कहा गया है। आगे चलकर इनकी हिंदी साहित्य में दलित लेखकों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं, उपन्यासों, कहानियों, कविताओं और जन आंदोलनों के माध्यम से मुखरित हीन भावना को देश के समक्ष लाया गया। जिन्हें केवल वैचारिक प्रतिकार तक ही सीमित नहीं समझा जा सकता। आजादी के बाद दलित चिंतन की अवधारणा जातिगत उत्थान की कड़ी मानी जाती है, जोकि पढ़े-लिखे लोगों, संतों व साहित्यकारों द्वारा ध्वनित रूप में प्रस्तुत किया गया दलित विमर्श आधुनिक समाज का प्रतिबिम्ब है। दलित साहित्यकारों ने दलित शब्द को उपेक्षाकृत व्यापक अर्थ में माना है शरणकुमार लिम्बाले ने अनुसार- "दलित अर्थात हरिजन या नवबौद्ध ही नहीं, बल्कि गाव की सीमा से बाहर रहने वाली सभी अछूत जातिया, आदिवासी, भूमिहीन, खेत मजदूर, श्रमिक, दुखी जनता और भटकी बहिष्कृत जाति इन सभी का 'दलित' शब्द की व्यख्या में समावेश होता है। दलित जाति की व्याख्या केवल अछूत जाति का उल्लेख करने से नहीं होगी। इसमें आर्थिक तौर पर पिछड़े हुए लोगें का समावेश करना चाहिए।"[3]

ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में- "डॉ. भीमराव अम्बेड़कर ने हमें 'दलित' शब्द दिया। इसका मतलब सभी छोटी से छोटी जातिया एक हो गई, न कोई मोची, न चमार, न भंगी रह गया। दलित शब्द के अन्दर सभी आ गए।"[4] लेकिन प्राचीन काल के अंत्यज और कल के हरिजन और आज स्वयं दलित कहना उन्हें क्यों पसंद है? अत: स्पष्ट है कि दलित शब्द एक ओर जहा शोषित, पीड़ित समुदाय की वेदना और वैमनस्य की छटपटाहट को अभिव्यक्त करता है वहीं दूसरी ओर यह सामाजिक विद्रोह मुक्ति की प्रेरणा देता है। दलित शब्द से एक नये समाज की आकांक्षा समानता, स्वतंत्रता, और जातिविहीन बन्धुत्व की भावना के रूप में प्रकट होती है। समतामूलक समाज की चेतना का उदभव प्राचीन काल में ही हो गया था लेकिन उसे समाज में विकृत रूप में कुछ बुद्धजीवियों ने उदघाटित किया, यद्यपि उसके पुनरूत्थान के लिए दलित लेखक प्रयासरत हैं।

दलित विमर्श की सामाजिक संकल्पना:

सकल पदारथ हैं जग माहीं। करमहीन नर पावत नाहीं। तुलसी दास जी कहते है कि इस संसार में सब कुछ है, जिसे हम पाना चाहें, उसे हम प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन जो कर्महीन अर्थात जो जन प्रयास नहीं करते, इच्छित चीजों के पाने से वंचित रह जाते हैं। रैदास जी ने कहा कि-

"सौ बरस लौं जगत मंहि, जीवित रह करू काम।
रैदास करम ही धरम है, करम करहु निहकाम।।"[5]

मनुष्य को संसार में सौ बरस तक जीवित रहने की इच्छा के लिए निरन्तर निष्काम कर्म करते रहना चाहिए। कर्म करना ही मनुष्य का धर्म है। रमेश मुनि कहते हैं कि- "भगवान महावीर स्वामी ने पुरूषार्थ करते हुए कर्म को महत्व दिया उन्होंने कहा कि व्यक्ति जन्म या जाति से महान नहीं होता, अपितु अपने कर्म, संस्कार, शिक्षा, आचरण, अनुशासन और व्यवहार से महान होता है। जगतगुरू रामानंद ने कबीर और रैदास के संदर्भ में कहा है कि जाति-पाति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।"[6] जातिप्रथा की उत्पत्ति के **प्रथम सिद्धांत** को मनुष्य की प्राकृतिक प्रवत्ति और प्रतिभा के अनुरूप सम्पूर्ण मानव समाज को चार वर्णो में बांटा- उच्च आध्यात्मिक तथा बौद्धिक प्रतिभाएं, बहादुर लोग (युद्ध की क्षमता), व्यवसायिक व उत्पादन योग्य तथा नौकरी पेशा, किसान, मजदूर लोग हैं। **अरस्तू ने कुटिल वाक्य में कहा कि 'कुछ लोग आदेश करने के लिए जन्म लेते हैं और कुछ पालन करने के लिए लेते हैं पहले प्रकार के शासक बन गये तथा दूसरे गुलाम बन गये'। द्वितीय सिद्धांत** के अनुसार जातिप्रथा निर्विकार भाव में थी जिसमें चर्मकार भी कारीगरों के साथ व्यवसाय में सम्मिलित थे, लेकिन उत्तर वैदिक काल में इन्हें घृणा का पात्र बना दिया गया। **तृतीय सिद्धांत** प्रत्येक जनजाति बहुसंख्यक कुलों में विभाजित है, लेकिन वैवाहिक संबन्ध कुलीन व्यवस्था पर आधारित है, जिससे निचले वर्णो का उच्च वर्ण के साथ सामाजिक संपर्क ठहर सा जाता है। **चौथे सिद्धांत** के अनुसार जातिप्रथा श्रम विभाजन पर आधारित है, आर्थिक प्रगति हेतु उत्पादन क्षमता बढ़ाने के उददेश्य से ब्राहम्ण तथा क्षत्रियों को श्रम श्रेणी से हटाकर वैश्य व शूद्रों को जिम्मेदारी दे दी गई थी, फलत: समाज में साधन एवं उत्पादन के असमान वितरण की परस्पर स्पर्धा से विषम परिस्थितियां उत्पन्न हुई और वर्ण भेर्द भाव उत्पन्न हो गया।

वास्तव में भौतिक परिवर्तनों से सामाजिक व्यवस्था पर पड़े प्रभावों का अध्ययन ही जाति के उदभव व विकास को समझने में सहायक सिद्ध होता है। दलित चिंतक बाबूराव बागुल का विचार है कि- "दलित साहित्य जाति-व्यवस्था की दुखद सच्चाई को संघर्षरत मनुष्य के मूल्यों को संरक्षित करने के लिए प्रतिबद्ध है, जो मनुष्य को महान बताने वाला वंश और जाति का विरोध करने वाला दलित साहित्य ही हो सकता है।"[7] दलित साहित्य में छायावादी और प्रगतिशील साहित्य के संदर्भ में अनुभूति व स्वानुभूति की प्रमाणिकता के तथ्य मिले हैं, लेकिन दलित साहित्यकार इसे आत्माविभक्ति ही स्वीकार करते हैं।

दलित चेतना एक प्रेरणा और प्रभाव:

दलित साहित्य की पृष्ठभूमि में दलित चेतना दृष्टिगोचर होती है। दलित साहित्य की उत्प्रेरणा और प्रभाव हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं में दलित आलोचना दिखाई देती है। "दलित साहित्य हिन्दू धर्म की सामाजिक व्यवस्था पर आधारित रूढ़िगत परम्पराओं और विचारों के प्रति विद्रोह है। साहित्य में चेतना पद दलित, शूद्र, अस्पृश्य और अछूत नामों से मन में छिपी कुंठा तथा व्यवहारिक बर्बरता को उजागर करती है।"[8] दलित साहित्य केवल विरोध मात्र विद्रोह नहीं, बल्कि दलित विमर्श सामाजिक व्यवस्था के प्रति खुला आ□श

और विद्रोह का मुख्य स्वर है, अर्थात दलित साहित्य कभी दया या सहानुभूति की भीख नहीं मांगता है। प्रसिद्ध साहित्यकार मुंशी प्रेमचन्द के अलावा अनेक ऐसे कथाकार हुए जिन्होंने अनुभूतिपरक दलित कहानियां लिखी जिनमें प्रमुख; प्रतिहिंसा-मुद्राराक्षस, बगल मे रहता सच- महेश कटार, पुर्नवास-विपिन बिहरी, तलाश- जय प्रकाश कर्दम, आवाजें- मोहनदास नैमिशराय, चार इंच की कलम- डॉ. कुसुम वियोगी, टूटता वहम- डॉ. सुशीला टाकभौरे, हैरी कब आयेगा- सूरजपाल चौहान, पच्चीस चौका ढेस सौ- ओमप्रकाश वाल्मीकि, जहरीली जड़ें- रूपनारायण सोनकर, हिस्से की रोटी- डॉ. शत्रुधन कुमार संभारिया से दलित विमर्श की प्रेरणा मिली। यद्यपि दलित लेखकों की आत्मकथाऐं; अपने अपने पिंजरे- मोहनदास नैमिशराय, जूठन- डॉ. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दोहरा अभिशाप- कौशल्या बैसंत्री, मेरा सफर मंजिल- डी आर जाटव, तिरस्कृत- सूरजपाल सिंह चौहान, मेरा बचपन मेरे कंधों पर- श्योराज सिंह बेचैन, शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौरे, मुर्दाहिया- डॉ. तुलसीराम जैसी रचनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं। हिन्दी साहित्य में इनकी संख्या बहुत ही कम हैं, लेकिन इन कहानी और आत्मकथाओं में बेबस, मेहनतकश, शोषित, पीड़ित और दलितों की करूणामयी चीखों की अभिव्यक्ति मिलती है। इन कथाओं में दलिर्त चेतना एवं विमर्श का प्रभावशाली विद्रोही स्वर प्रखर होकर सामने आया है। इस प्रकार का करूणामयी साहित्य दलितों को अपने अधिकारों की संवेदना के साथ प्रेरित करता है और इस दलित विमर्श का समाज पर स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

अम्बेड़करवादी विचारधारा और समाजः

"अम्बेडकरवादी अर्थात शुद्ध दलित साहित्य कला न होकर एक सामाजिक आंदोलन है। उसका मुख्य सरोकार अपनी संस्कृति, परम्परा और इतिहास में अपनी पहचान तथा अपनी अस्मिता की पहचान कराने वाला साहित्य है जो समान बन्धुत्व व स्वतंत्रता जैसे जनतांत्रिक मूल्यों पर आधारित है, यही अम्बेडकरवादी दर्शन का मूलतत्व है।"[9] उन्होंने बौद्ध आंदोलन के माध्यम से दलितों को प्रेरित किया और अछूतों से सामाजिक भेदभाव के विरूद्ध अभियान चलाया था। सभी श्रमिका, किसानों और महिलाओं के अधिकारों का समर्थन भी किया था। उन्होंने स्वतंत्र भारत के जननेता के रूप में भारतीय राजनीति के शीर्ष पर रहकर दलितों को सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष का एहसास कराया। अम्बेडकर की विचारधारा दलित साहित्यकारों को गैर दलित साहित्यकारों से अलग करती है क्योंकि दलित लेखकों ने स्वानुभूति के आधार पर साहित्य का सृजन किया है और गैर दलित साहित्यकार बहुजन दर्द और पीड़ा को सहानुभूति तक ही अभिव्यक्त करने में सफल हुए। इसलिए यह तथ्य बार-बार दुहराया गया कि दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य जो कटु अनुभवों को जातिगत भेदभाव, छूआछूत, अमानवीय उत्पीड़न व नृशंस रूप में झेलते हुए दिखाई देता है। बाबा साहेब अम्बेडकर ने विक्टोरियन खान-पान, रहन-सहन को गर्व से अपनाते थे, उन्होंने स्वदेशी आंदोलन तथा अंग्रेजो भारत छोड़ो आंदोलन में महात्मा गांधी का सहयोग न करके अपने आपको विशेष सूटबूट वाले वकील और प्रोफेसर के रूप में पेश किया और दलित लोग भी उन्हें देखकर गौरव महसूस करते थे। यही कारण है कि भारतीय राजनीति में दलित नेता के रूप में तेजस्वी और प्रतिभाशाली नेता डॉ. अम्बेड़कर का उदय हुआ। 1973 ई. में पिछड़ा एवं अल्पसंख्यक समुदाय कर्मचारी महासंघ बामसेफ (BAMCEF) की स्थापना अम्बेड़कर के निर्वाण के दिन हुई। जिसका उद्देश्य भारतीय समाज को विभाजित करने वाली असमानता की जड़ प्रणाली से लड़ना और जाति व्यवस्था को समाप्त करना था। कांशीराम जी ने डॉ. भीमराव अम्बेड़कर की विचारधारा के आधार पर

78 में दलितों को पुन: सशक्त बनाने का प्रयास किया गया। दलित विमर्श पूर्ण रूप से अम्बेडकरवादी विचारधारा "शिक्षित बनो, संघटित रहो और सघर्ष करो" पर टिका है।

हिन्दी साहित्य में दलित सरोकार:

हिन्दी साहित्य में इतनी तो विविधता होनी चाहिए जिससे कि वह समग्र समतामूलक सौन्दर्य साहित्य का आधार बन सके। "वस्तुत: दलित साहित्य दलित जीवन की समग्रता को समेटने वाला वह शास्त्र है, जिसमें अछूतों, पीड़ितों, वंचितों और गरीब मजदूर व किसानों के दुख दर्द की मर्मस्पशी जीवन गाथा समाहित है।"[10] मराठी साहित्य की अपेक्षा दलित साहित्य बहुत ही समृद्ध है। कुछ उपन्यास जो मराठी दलित उपन्यासों की तरह समाज पर सघन प्रभाव छोड़ते हैं। कुछ उत्कृष्ट कहानी व आत्मकथाओं ने भी अपनी अमिट छाप छोड़ी है। कुछ कविताओं ने आवेशजन्य और आ□शपूर्ण प्रति□या के लिए विवश किया है। प्रगतिशील दलित आंदोलन के प्रारम्भिक दौर में ऐसी तमाम रचनाए□सामने आई थी, जिन्होंने पू□ीवाद को चुनौती दी और □ांतिकारी आवेश पैदा किया। परन्तु वास्तविक जीवन में कोई विशेष बदलाव देखने को नहीं मिला, जिनमें सामाजिक यथार्थ के मद्देनजर जिन्दगी को करीब से देखा था।

दलित जीवन की विषमताओं, विसंगतियों के सजीव प्रतिबिम्ब समाज में प्रस्तुत किये गये लेकिन बहुआयामी रचनाशीलता के कारण साहित्य सौन्दर्य अधूरा रहा। वैसे तो दलित साहित्य के लेखन में संभावनाओं व प्रतिभाओं के जीते जागते अनुभव हैं जोकि स्वानुभूति की धरोहर हैं। दलित साहित्य हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग है जिसमें गरीबों की करूणा के सार्थ साथ उनके उत्थान के लिए उन्हें प्रेरित कर नए प्रयास किये किए गए। इस स्वानुभूति का प्रयोग दलित लेखकों द्वारा निरन्तर किया जा रहा है। सहानुभूतिक साहित्य ने भी दलितों की अभिव्यंजना व्यक्त की है। हिंदी साहित्य बहुआयामी, बहुविधि, रचनाशीलता के अभाव में अपने वास्तविक सौंदर्यशास्त्र का प्रदर्शन अधूरा ही कर पायेगा। दलित लेखन में अपार संभावनाऐं हैं, सदृश कटु अनुभव हैं, स्वानुभूति की विशिष्ट सम्पदा है जिसका उपयोग दलित लेखकों ने हिन्दी साहित्य में □बद्ध तरीके किया। दलित लेखकों ने आधुनिक विधाओं के माध्यम से हिन्दी साहित्य में सम्मानजनक स्थान बनाने की कृत्सन कोशिश की है, साथ ही दलितों को स्वविकास व स्वावलम्बन की ओर प्रेरित किया है।

परिवर्तनशील दलित चिंतन परम्परा का स्वरूप:

हिन्दी साहित्य के लेखन की परिवर्तनशील चिंतन परम्परा का आरम्भ हम 19वीं सदी से मान सकते हैं हांलाकि आधुनिकाल में दलितों ने संघर्षशील जीवन भोगा है भारतीय चिंतन परम्परा के अनुसार वाक का एक पर्यायवत पद 'शब्द' है जिसे ब्रह्मा माना जाता है अर्थात शब्द ब्रह्म के समान अंतिम और मौलिक यथार्थ है इस प्रकार 'शब्द' आत्मा या जीव या व्यक्ति की भाषा उसकी संपूर्ण चेतना या उसके संपूर्ण 'स्व' की अभिव्यक्ति है। ठीक उसी प्रकार दलित साहित्य के चिंतन में दलितों से सम्बंधित सभी प्रकार के प्रश्नों पर किसी लेखक या किसी दलित लेखक द्वारा दलित वर्ग या दलित समुदाय के चिंतनों, सिद्धांतों और मूल्यों की समतामूलक वेदना का समावेश होता है। "दलित चिन्तन परम्परा का लक्ष्य किसी समस्या का सामूहिक समाधान करना होता है। इसमें प्रयत्न और श्रुति की प्रि□या शामिल होती है।"[11] भारत में गरीबी का दंश, तिरस्कार, उत्पीड़न और मानसिक वेदना के प्रभावों को उजागर करते हुए अनेक दलित लेखकों ने अपने साहित्य में दलित विमर्श का

निर्माण किया है और इस वेदना को स्मृतियों के पन्नों तक ही सीमित न कर उत्थान की परिणिति के द्वार तक पहुचाया है।

निष्कर्ष:

भारतीय परिवर्तनवादी चिंतन परम्परा में दलित लेखक वर्ग के यथार्थ के आगे सोचना नहीं चाहते हैं, जबकि प्राचीन व वैदिक युगीन भारतीय सामाजिक वर्ण व्यवस्था में किसी प्रकार की असमानता अथवा भेदभाव के प्रमाण नहीं मिलते हैं। "भारत का विश्व बन्धुत्व अथवा वसुधैव कुटुंबकम जैसा ध्येय है तो भारत के आंतरिक स्वभाव में परिवर्तन कैसे सम्भव हो सकता है।"[12] यह विचारणीय तथ्य है कि भारत पर लम्बे अर्से तक मुगल शासन तथा अंग्रेजों ने अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए भारतीय समाज में ऐसी भ्रांतिपूर्ण परिस्थितिया पैदा की, जिससे भारतीय समाज की एकता जाति के नाम पर छिन्न-भिन्न हो गयी, जिसके परिणामस्वरूप दलित गरीब व समाज में प्रताड़ित लोग धर्म परिवर्तन की ओर आकर्षित होने लगे। इसलिए हमारा आग्रह है कि दलितवर्ग की वास्तविकता को स्वीकार किया जाए। दलित जिस यातना भरे अनुभवों से गुजरे हैं, उनकी संवेदनाओं के प्रति सहानुभूतिक तौर पर मुंशी प्रेमचंद, जगदीशचंद्र व अन्य गैर दलित लेखकों ने दलितों पर लिखा है, क्या वह सचमुच उस यातना का वैसा ही अनुभव भारतीय परिवर्तनवादी चिंतन परम्परा में करते हैं या नहीं, यह बात भी दलित लेखकों को संदेहजनक प्रतीत होती है। इसके सापेक्ष स्वानुभूतिक दलित साहित्य में दलित लेखको द्वारा गरीब, वंचितों तथा पीड़ितों की संवेदनाओं को बेबाकी से प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक, राजनीतिक सहभागिता तथा आर्थिक नीति में सुधारों से वर्तमान की दलित अभिव्यंजना में वांछनीय सकारात्मक परिवर्तन हो रहा है। परन्तु कुछ विघटनकारी तत्व अपनी आकांक्षाओं की क्षणिक पूर्ति के लिए सनातन धर्म के पुन: विखण्डन हेतु समाज में जातीयता के विषबीज को रोपने का प्रयास कर रहे है।

संदर्भ सूची

1. सं. श्री नवल जी: नालन्दा विशाल शब्दसागर, पृष्ठ- 568
2. सं. श्यामसुंदरदास बी.ए: हिन्दी शब्दसागर (चतुर्थ भाग), पृष्ठ- 2229
3. शरण कुमार लिम्बाले: दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, अनु. रमणिका गुप्ता, 2000, पृष्ठ- 8
4. ओमप्रकाश वाल्मीकि, संपादक: जाति एक विमर्श: 2013, पृष्ठ -17
5. डॉ. जगदीश शरण: रैदास ग्रंथावली, साहित्य संस्थान प्रकाशन, संस्करण 2011, पृष्ठ- 88
6. के दामोदरन: भारतीय चिंतन परम्परा, संस्करण 2018, पृष्ठ -37
7. कृष्णदत्त पालीवाल: दलित साहित्य बुनियादी सरोकार, तृतीय संकरण 2021, पृष्ठ -21
8. कृष्णदत्त पालीवाल: दलित साहित्य बुनियादी सरोकार, तृतीय संकरण 2021, पृष्ठ -15
9. ओमप्रकाश वाल्मीकि, संपादक: जाति एक विमर्श: 2013, पृष्ठ -39
10. सुदामा पांडेय 'धूमिल': संसद से सड़क तक, 1972, पृष्ठ -13
11. के दामोदरन: भारतीय चिंतन परम्परा, संस्करण 2018, पृष्ठ -67
12. आचार्य विष्णु शर्मा: पंचतंत्र- पृष्ठ -31

xxxxxxxxxx